International Journal of Applied Research 2017; 3(12): 332-336

ISSN Print: 2394-7500
ISSN Online: 2394-5869
Impact Factor: 5.2
IJAR 2017; 3(12): 332-336
www.allresearchjournal.com
Received: 25-11-2017
Accepted: 29-12-2017

डॉ. अंजना रानी
एसोसिएट प्रोफेसर,
दर्शनशास्त्र, श्री गोविंद गुरु राजकीय महाविद्यालय,
बांसवाड़ा, राजस्थान, भारत

Corresponding Author:
डॉ. अंजना रानी
एसोसिएट प्रोफेसर,
दर्शनशास्त्र, श्री गोविंद गुरु राजकीय महाविद्यालय,
बांसवाड़ा, राजस्थान, भारत

भारतीय संस्कृति में कर्म की अवधारणा

डॉ. अंजना रानी

सारांश
जन्म से लेकर मरण तक विभिन्न प्रकार के कर्मों में मनुष्य लिप्त रहता है। कर्म बंधन का कारण भी बनता है और मुक्ति का भी कारण बनता है। अतः कर्म के प्रति जो हम दृष्टि अपनाते हैं, वह सबसे महत्वपूर्ण हो जाती है। भारतीय संस्कृति में कर्म के विविध रूपों का सूक्ष्म विश्लेषण कर मानव का पथ-प्रदर्शन किया गया है। प्रायः भारतीय संस्कृति को भाग्यवादी मान लिया जाता है किंतु भारतीय दार्शनिक ग्रंथों में कर्म के व्यापक और सूक्ष्म विश्लेषण को देखकर यह संस्कृति कर्म प्रधान संस्कृति सिद्ध होती है।

कूटशब्द: संचित, प्रारब्ध,क्रियमाण, सकाम, निष्काम

प्रस्तावना
गीता कहती हैं कि कर्म किए बिना क्षण भर भी व्यक्ति स्थित नहीं हो सकता। अर्थात् जन्म से लेकर मरण तक व्यक्ति निरंतर कोई न कोई कर्म करते रहता है। दूसरे शब्दों में कहें तो मनुष्य का लक्षण कर्म ही है-

"मनुष्या: कर्मलक्षण:"[1]

रामचरितमानस में भारतीय संस्कृति के मर्मज्ञ तुलसीदास लिखते हैं कि-

"कर्म प्रधान विश्व करि राखा, जो जस करहिं सो तस फल चाखा।।"[2]

जो लोग यह सोचते हैं कि भारतीय चिंतन निष्क्रिय- भाग्यवाद का पोषक हैं, वे भ्रांति के शिकार हैं। भारतीय विचारधारा प्रारंभ से ही कर्मवाद की प्रबल समर्थक रही है।

विभिन्नरूपा कर्म: भारतीय संस्कृति में इस कर्म के तीन रूप बताए गए हैं -संचित, प्रारब्ध तथा क्रियमाण। संचित कर्म वे हैं, जो अतीत कर्मों से उत्पन्न होते हैं परंतु जिसका फल मिलना अभी शुरू नहीं हुआ है।

प्रारब्ध कर्म वे हैं, जिसका फल इस जन्म में मिलना शुरू हुआ है, इसका संबंध अतीत जीवन से हैं। क्रियमाण कर्म वे हैं, जो वर्तमान समय में किए जा रहे हैं, लेकिन जिनका फल भविष्य में मिलेगा।

भारतीय चिंतन में कर्म का इतना अधिक महत्व है कि व्यक्ति का पुनर्जन्म का आधार भी कर्म को ही माना गया है। व्यक्ति जिन माता-पिता, परिवार,समाज तथा समय में जन्म लेता है; वे सब उसके प्रारब्ध कर्मों के ही परिणाम होते हैं-

"फलस्य वा पूर्वावस्था पूर्वं नामास्तीती तर्क्यते।"[3]

कर्म फल के संबंध में विभिन्न मत

कर्मों का फल किस तरह प्राप्त होता है,इस संदर्भ में भारतीय संस्कृति में प्रमुख रूप से दो मत प्रचलित हैं - (1) ईश्वरवादी मत मानता है कि ईश्वर वह शक्ति है जो प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्म के अनुसार फल प्रदान करता है।(2) इसके विपरीत निरीश्वरवादी मत ईश्वर के अस्तित्व की कोई आवश्यकता अनुभव नहीं करता। वह मानता है कि प्रत्येक कर्म से एक शक्ति (अपूर्व) उत्पन्न होती है जो किसी भी तरह खत्म नहीं की जा सकती और इस कर्मजन्यशक्ति के कारण प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्म का फल भोगना ही पड़ता है। मीमांसकों का यही मत है।

भारतीय मत के अनुसार व्यक्ति स्वयं अपना भाग्य विधाता है ,इसलिए भगवद्गीता कहती हैं-

"उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्
आत्मैवह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन:।"[4]

वेद तथा उपनिषद में कर्मवाद

ऋग्वेद में कर्म सिद्धांत बीज के रूप में मिलता है जहां उसे "ऋत" कहा गया है। यह नैतिक व्यवस्था का नाम है।जगत में सबसे पहले ऋत ही उत्पन्न हुआ,सत्य की उत्पत्ति उसके बाद में हुई-

"ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसो ध्यजायत।"

अथर्ववेद का मनीषी कहता है कि मेरे दाहिने हाथ में पुरुषार्थ है और बांयें हाथ में सफलता रखी है-

"कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहित:"[5]

अथर्ववेद में अन्यत्र कहा गया है कि"मैं स्वभावत: विजयशील हूं। पृथ्वी पर मेरा उत्कृष्ट पद है। मैं विरोधी शक्तियों को परास्त कर समस्त विघ्न-बाधाओं को दबाकर प्रत्येक दिशा में सफलता पाने वाला हूं।"

कर्म की इस प्रवृत्ति को कालांतर में कर्मकांड की कालिमा ने ग्रसित कर डाला। ब्राह्मण काल में पुरोहितवाद के प्रबल होने से यज्ञ के नाम पर हिंसा तथा परिग्रह पनपने लगे। पशु-वध यज्ञ का प्रमुख अंग बन गया और कर्मकांड का एक भयंकर रूप सामने आया।

उपनिषद के ऋषियों ने कर्मकांड का विरोध कर कर्मवाद का प्रांजल रूप जगत के सामने रखा। बृहदारण्यक उपनिषद में कहा गया है कि श्रेष्ठ कर्म करने वाला श्रेष्ठ व्यक्ति एवं निकृष्ट कर्म करने वाला दुष्ट व्यक्ति बन जाता है। पुण्य कर्मों के द्वारा ही मनुष्य के जीवन में पवित्रता, निर्मलता और स्वच्छता आती है।

प्रश्नोपनिषद में कहा गया है कि ऊपर की ओर गति वाली उदात्त वायु जीव को मृत्यु उपरांत पुण्य कर्म करने के कारण स्वर्ग लोक ले जाती है एवं पाप कर्म के कारण नरक में ले जाती है ,जो व्यक्ति पाप और पुण्य दोनों प्रकार का मिश्रित कर्मफल भोगने के लिए अभिमुख होते हैं,उन्हें यह पुनः मनुष्य योनि में ले आती है। ऐतरेय ब्राह्मण "चरैवेति चरैवेति" मंत्र में उद्घोष करता है कि जो बैठा रहता है उसका भाग्य भी बैठ जाता है,चलने वाले का सौभाग्य भी चलने लगता है।

दार्शनिक संप्रदायों में कर्म की अवधारणा

जैन धर्म मानता है कि पृथ्वी,जल आदि की तरह कर्म भौतिक होता है। कर्म के 8 प्रमुख प्रकार हैं- ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, वेदनीय,आयुष, नाम ,गोत्र तथा अंतराय। जैन दर्शन ईश्वर को नहीं मानता। इससे मानव की गरिमा और उत्तरदायित्व

दोनों बढ़ जाता है। मनुष्य अपने सत्कर्मों के माध्यम से अपने मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।

बौद्ध दर्शन में अष्टांगिक मार्ग के द्वारा कर्म की प्रेरणा दी गई है। सम्यक् ज्ञान, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीविका, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति, सम्यक् समाधि में से संकल्प, कर्मान्त, आजीविका और व्यायाम द्वारा व्यक्ति को सही प्रकार के कर्म करने की प्रेरणा दिया गया है। महामैत्री तथा महाकरुणा से आप्लावित हृदय वाला बौद्ध साधक जन कल्याण के लिए हमेशा कार्यरत रहता है। सर्व दुख प्रशांति के लिए स्वयं बुद्ध ने बार-बार संसार में जन्म लिया।

गौतम के न्याय सूत्र में कर्म के 12 भेद माने हैं-आत्मा, शरीर, इंद्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन,प्रवृत्ति, दोष,प्रेत्यभाव, फल, दुख और अपवर्ग। प्रवृत्ति का अर्थ है मन-वचन-शरीर का व्यापार।

वैशेषिक भी कर्म के महत्व को स्वीकार करता है और 7 पदार्थों को मानता है-द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष समवाय, अभाव। इसमें से कर्म द्रव्य में आश्रित रहने वाला धर्म है। यह कर्म पांच प्रकार का होता है-उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण तथा गमन।

सांख्य दर्शन में सभी क्रियाएं प्रकृति के क्षेत्र में संभव है क्योंकि पुरुष केवल चेतन रूप और दृष्टा है। इसके बावजूद सांख्य दर्शन पुरुष द्वारा कर्म करने के विधान को स्वीकार करता है। जीवन मुक्ति की अवस्था प्राप्त करने पर भी पुरुष को कर्म करना पड़ता है। तत्वज्ञान के प्रभाव से अनारम्भ कर्मबीज तो खत्म हो जाते हैं और क्रियमान कर्म की भी उत्पत्ति नहीं होती, पर प्रारब्ध कर्म जिनका फल आरंभ हो चुका है ,नष्ट नहीं होते। विदेह मुक्ति की दशा तक कर्म करना पुरुष की नियति है।

पतंजलि ने अपने योगसूत्र शास्त्र में कहा है कि सभी कर्मों को ईश्वर के चरणों में अर्पित कर सदैव ईश्वरभाव में रत रहना चाहिए, यही ईश्वर-प्रणिधान है। उनकी नजर में ईश्वर प्रणिधान साधना की दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण है पर कर्म को छोड़ना असंभव है।

मीमांसा दर्शन में तो कर्म संबंधी एक नवीन दृष्टिकोण पाया जाता है। प्रभाकर 8 पदार्थों की सत्ता मानते हैं- द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, परतंत्रता, शक्ति, सादृश्य और संख्या। कुमारिल पदार्थों की संख्या 5 मानते हैं- द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य तथा अभाव। मीमांसा दर्शन में कर्म को विशेष स्थान प्राप्त है क्योंकि इस दर्शन को कर्म- मीमांसा- दर्शन कहा जाता है। मीमांसकों ने कर्म को धर्म का नाम दिया है। वेदाज्ञापूर्वक जिस कर्म को करने की प्रेरणा हो, वह धर्म का लक्षण है। विधिविधानपूर्वक जिस कर्म को करने से जन्मजन्मान्तर में परमानन्द अनुभूति हो वह वेद प्रतिपाद्य कर्म अनुष्ठान कर्म के लक्षण का द्योतक है। वेदविहित-कर्तव्य -कर्म ही धर्म है। इस प्रकार यज्ञ आदि धर्म भी कर्म हैं, जो वेद द्वारा प्रतिपादित प्रयोजनवाला तथा सार्थक हों। ऐसे धर्म को ही मीमांसकों ने कर्म की संज्ञा दी है। इन्हीं कर्मों के करने से मनुष्य के व्यक्तित्व में निम्नलिखित सभी गुणों की वृद्धि होती है।

"श्रद्धां मेधां यश: प्रज्ञां विद्यां बुद्धिं श्रियं बलम्।
आयुष्यं तेज आरोग्यं देहि में एतत् कर्ममम्।। "

मीमांसा के अनुसार वेदानुकूल कर्म ही उचित हैं। जो मानव को मुक्ति दिलाने में सहायता करता है। वेद प्रतिपादय कर्म पांच प्रकार के हैं - नित्य, प्रायश्चित, नैमैतिक, उपासना, निषिद्ध।

मीमांसा दर्शन में कर्मफल दाता के रूप में मुख्य रूप से मुक्ति के लिए कर्म पर बल देते हैं। जैसे कि वेदों में कहा गया है ‘‘यज्ञेत सर्वकामः’’ अर्थात स्वर्ग की कामना करने वाले को यज्ञ करना चाहिए। निषिद्ध तथा काम्य कर्मों से चित को अच्छी तरह से हटा लेना चाहिए। और इसके पश्चात् नित्य, नैमैतिक तथा प्रायश्चित कर्मों से अनुष्ठान करना चाहिए जिससे प्राणी के समस्त पातक ध्वस्त हो जाएं।

मीमांसकों ने वेद की इस उक्ति द्वारा यही सन्देश लिया है
‘‘ मनुर्भव जनया दैव्यं जनम् ’’
अर्थात् हे मनुष्य ! तू मनु बन तथा दिव्य व्यक्तित्व के निर्माण में अपने जीवन को लगा।

यहां कर्मकाण्ड के मार्ग से मीमांसा का धर्मशास्त्र अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंच जाता है जहां निष्काम कर्म कर्तव्य के लिए प्रयुक्त होते हैं तथा मुक्ति प्रदान करने में सहायक बनते हैं।

सहृद्धयं सामनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः
अन्यों अन्यममिध्र्यत वत्सं जातमिवाहन्या।।[6]

आचार्य शंकर ने कर्म-विधान को स्वीकार किया है। व्यक्तित्व अर्थात् पृथकत्व का आधार कर्म ही है। कर्म अविद्या की उपज है। जिस जगत में हम उत्पन्न हुए हैं वह कर्ता के ऊपर उसके पूर्व कर्मों का प्रतिपादन मात्र है। ''स्वयं वाजिंस्तन्वं कल्पयस्व स्वयं यजस्व स्वयं जुषस्व महिमा ते अन्येन न सन्नशे । ''[7]
अर्थात् हे कर्म और ज्ञान से सम्पन्न मनुष्य। तू अपने शरीर को समर्थ बना, स्वयं उत्तम, कर्म कर, समर्थशाली बन।
आचार्य शंकर के अनुसार समस्त क्रियमाण व्यापार कर्म है; कर्म के लिए देहादि चेष्टाएं अनिवार्य है। कर्म नैसर्गिक हैं और इसी को संसार अथवा विश्व के नाम से अभिहित किया जाता है। कर्म की उत्पति में गुण और स्वभाव ये दो सहकारी कारण हैं। कर्म नियम समस्त लौकिक व व्यावहारिक सत्य की प्रतिष्ठा करता है और जगत को क्रम का विभाजन प्रदान करता है। गुण प्रकृति के अन्तर्भूत हैं और गुणों का समुच्चय ही प्रकृति है, उसी प्रकार कर्मों में गुणों की क्रिया और उसका प्रभाव स्वाभाविक है। शंकर के अनुसार पूर्व जन्मान्तरों में किए गए कर्म संस्कार रूप में रहते हैं। वे संस्कार ही वर्तमान जन्म में कार्यरूप में व्यक्त होते हैं। संस्कारों की यह अभिव्यक्ति ही स्वभाव है। इसी अभिव्यक्ति से प्रेरित हो कर जीव कर्म करता है।

"क्रियाया गन्धमात्रस्याप्यनुप्रवेश इहनोपपद्यते।"

उपनिषदों का सार कहे जाने वाली गीता में कर्म का गहरा विश्लेषण है। एक दृष्टि से कर्म दो प्रकार के होते हैं- आसक्त कर्म ,अनासक्त कर्म। प्रायः मनुष्य आसक्ति के कारण कोई कर्म करता है किंतु गीता कहती हैं कि फल की कामना को त्याग कर कर्म करना चाहिए-

"सुख-दुखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ
ततो युद्धाय युजस्व नैवं पापमवाप्सयसि।।"[8]

गीता के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र; सभी वर्णों के कर्म निश्चित है। ये निश्चित कर्म ही उनके स्वधर्म है।
एक अन्य विभाजन के अनुसार कर्म के तीन रूप हैं - कर्म, अकर्म, विकर्म। कर्म का अर्थ हुआ वे क्रियाएं जो व्यक्ति को बांधती हैं, अकर्म का अर्थ हुआ निरासक्त भाव से किया हुआ कर्म और विकर्म का अर्थ है वे कार्य जो शास्त्र द्वारा गलत माने गए हैं। सात्विक,राजसिक और तामसिक कर्म का भी विधान गीता में किया गया है। जो कर्म शास्त्रविधि से नियत और कर्तापन के अभिमान से रिक्त हैं सात्विक कर्म है। फल की कामना से कठोर परिश्रम द्वारा अहंकार पूर्वक किया गया कर्म राजसिक कर्म है। परिणाम, हानि,हिंसा और सामर्थ्य का विचार किए बिना अज्ञानवश किया हुआ कर्म तामसिक है। गीता का सबसे बड़ा अवदान निष्काम कर्म की अवधारणा है-

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन
मा कर्मफल हेतुर्भूमा तेसंगोअस्त्वकर्मणि।।[9]

भारतीय संस्कृति का कर्मवाद अध्यात्म और यथार्थ, निवृत्ति और प्रवृत्ति ,व्यक्ति और समाज तथा भूत-भविष्य- वर्तमान जन्मों के बीच एक अद्भुत समन्वय स्थापित करता है। महाभारतकार के शब्दों में जो क्रियावान मनुष्य हैं, वे ही पंडित हैं-

"य: क्रियावान स पंडित:"

किंतु प्रत्येक कर्म विचारपूर्वक पूर्ण होश से किया जाना चाहिए क्योंकि जो कर्म बंधन का कारण बनता है वही कर्म दृष्टि परिवर्तन होते ही मुक्ति का कारण बन जाता है।

संदर्भ

1. महाभारत अश्वमेध पर्व 43/21
2. रामचरितमानस- तुलसीदास
3. शांकरभाष्य 3/2/40
4. भगवद्गीता
5. अथर्ववेद 7/52/8
6. अर्थववेद 3/30/9
7. यजुर्वेद 23/15
8. गीता 2.38
9. गीता 2.47